लघु, अल्पसंख्यक और आदिवासी भाषाएँ तथा भाषा–नीति व बहुभाषिक शिक्षा

संजय कुमार सुमन*

भारत में लघु, अल्पसंख्यक और आदिवासी भाषाओं का महत्त्व जग-ज़ाहिर है। इसमें भारतीय संस्कृति की अमूल्य धरोहर छिपी हुई है। इनके समुचित संरक्षण और विकास से बहुत अधिक फायदा हो सकता है। लेकिन दुर्भाग्यवश भारतीय भाषिक परिवेश में इन लघु, अल्पसंख्यक और आदिवासी भाषाओं के सामने आज का अस्तित्व संकट उपस्थित हो गया है। केंद्र और राज्य सरकारों तथा गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा हालाँकि भाषा के विकास हेतु पिछले कई वर्षों से अनगिनत कार्यक्रमों, योजनाओं, नीतियों और नियमों को क्रियान्वित किए जाने का प्रयास हुआ है। मगर फिर भी इनके ऊपर ह्रास और विनाश का खतरा कम नहीं हुआ है। इस लेख में इस दिशा में अब तक के किए गए प्रयासों को संतोष्रपद नहीं मानते हुए इसके लिए स्वतंत्र भाषानीति और अकादमी की ज़रूरत पर ज़ोर देने की कोशिश की गयी है। इससे भाषायी संकट के समाधान की दिशा में कुछ ठोस और महत्वपूर्ण प्रयास किए जा सकते हैं, जिससे न केवल लघु, अल्पसंख्यक और आदिवासी भाषाओं को, बल्कि सभी भारतीय भाषाओं को भी लाभ होगा। इससे बहुभाषा-भाषी भारतीय परिवेश में बहुभाषिक शिक्षा योजना की दिशा का मार्ग भी प्रशस्त होगा।

विभिन्न आयोगों/नीतियों के परिप्रेक्ष्य में भाषा

भारत में स्वतंत्रता के बाद जितनी भी राष्ट्रीय योजनाएँ बनी हैं, उनमें राष्ट्रीय एकता और राष्ट्रीय चेतना की प्राप्ति के लिए शिक्षा के क्षेत्र को एक आवश्यक और महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में चिह्नित किया गया है। उसमें भाषाओं के महत्त्व को स्वीकारते हुए भाषानीतियों के निर्माण, क्रियान्वयन और संवर्धन का भी प्रयास किया गया है। इस संबंध में अलग-अलग आयोगों और समितियों के सुझावों पर ध्यान देकर हम अपने बहुभाषी समाज में आज बहुभाषी शिक्षा और लघु, अल्पसंख्यक तथा आदिवासी भाषाओं के सुधार तथा विकास के बारे में कुछ महत्वपूर्ण प्रयास कर सकते हैं।

* *एसोसिएट प्रोफ़ेसर* (हिंदी), भाषा शिक्षा विभाग, एनसीईआरटी, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली

डॉ. राधा कृष्णन आयोग (1948) ने अपने महत्वपूर्ण सुझाव में कहा था कि (1) उच्चतर माध्यमिक स्तर पर छात्रों को तीन भाषाओं का ज्ञान कराया जाये–

(क) प्रादेशिक भाषा
(ख) संघीय भाषा
(ग) अहिंदी भाषा

इसके अतिरिक्त उनका यह भी सुझाव था कि विश्वविद्यालय स्तर पर सभी कक्षाओं में हिंदी की शिक्षा दी जाये।

मुदालियार आयोग (1952-53) ने द्विभाषा सूत्र प्रस्तुत किया और सुझाव दिया कि माध्यमिक स्तर पर छात्र कम से कम दो भाषाओं का अध्ययन करें। एक मातृभाषा और दूसरी हिंदी। जहाँ हिंदी मातृभाषा हो वहाँ किसी अन्य भारतीय भाषाओं का अध्ययन कराया जाये। आयोग ने यह भी कहा कि अंग्रेज़ी और संस्कृत को वैकल्पिक भाषा के रूप में पढ़ाया जाये।

बी.जी. खरे की अध्यक्षता में गठित *भाषा आयोग* (1955) ने समस्त विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम हिंदी बनाने का सुझाव दिया एवं उच्च स्तरीय प्रतियोगिताओं, जैसे– आई.ए.एस. में भी वैकल्पिक माध्यम के रूप में हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं को स्थान देने की सलाह दी।

केंद्रीय शिक्षा सलाहकार परिषद् (1956) ने त्रिभाषा सूत्र प्रस्तुत किया। इसके अनुसार माध्यमिक स्तर के प्रत्येक छात्र को तीन भाषाओं का ज्ञान कराया जाना चाहिए–

(i) मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा
(ii) अंग्रेज़ी या अन्य आधुनिक विदेशी भाषा
(iii) हिंदी भाषा अहिंदी भाषी क्षेत्रों के लिए और कोई भारतीय भाषा हिंदी क्षेत्रों के लिए।

कोठारी आयोग (1964-66) ने भी त्रिभाषा सूत्र का सुझाव दिया। उसके अनुसार छात्र कक्षा 1 से 10 तक तीन भाषाओं का अध्ययन करें। मातृभाषा हिंदी और अंग्रेज़ी (राजभाषा के रूप में)। साथ ही आयोग ने सुझाव दिया कि शिक्षा के विभिन्न स्तरों पर मातृभाषा की शिक्षा को माध्यम बनाया जाये किंतु विश्वविद्यालय स्तर पर अंग्रेज़ी को शिक्षा का माध्यम बनाया जाये।

शिक्षा आयोग (1964) ने अपने प्रतिवेदन में त्रिभाषा सूत्र की सिफ़ारिश की जो इस प्रकार है– (1) मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा (2) केंद्र की राजभाषा या सह राजभाषा (3) एक आधुनिक भारतीय भाषा या विदेशी भाषा जिसे (1) या (2) में न रखा गया हो और जो शिक्षा के माध्यम से भिन्न हो।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005 में भी कहा गया है कि *''भाषा शिक्षण बहुभाषिक होना चाहिए, केवल कई भाषाओं के अर्थ में ही नहीं, बल्कि रणनीति तैयार करने के लिहाज से भी ताकि कक्षा को एक संसाधन के तौर पर प्रयोग में लाया जाए। त्रिभाषा फार्मूले को उसके मूलभाव के साथ लागू किए जाने की ज़रूरत है, ताकि वह बहुभाषी देश में बहुभाषी संवाद के माहौल को बढ़ावा दे। गैर-हिंदीभाषी राज्यों में बच्चे हिंदी सीखते हैं। हिंदी प्रदेशों के मामलों में बच्चे वह भाषा सीखें जो उस इलाके में नहीं बोली जाती है। इन भाषाओं के अलावा आधुनिक भारतीय भाषा के रूप में संस्कृत का अध्ययन भी शुरू किया जा सकता है। बाद के स्तरों पर शास्त्रीय और विदेशी भाषाओं से परिचय करवाया जा सकता है।''* (राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली)

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा-2005 में यह भी कहा गया है कि त्रिभाषा का *''प्राथमिक उद्देश्य भारत में बहुभाषिकता और राष्ट्रीय सद्भाव का प्रसार है। निम्नलिखित दिशा-निर्देश इन लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। बच्चों की घरेलू भाषाओं को स्कूल में शिक्षा का माध्यम बनाया जाना चाहिए। अगर स्कूल में उच्चतर स्तर पर बच्चों की घरेलू भाषाओं में शिक्षण की व्यवस्था न हो, तो प्राथमिक स्तर की स्कूली शिक्षा अवश्य घरेलू भाषाओं के माध्यम से ही दी जाए। यह आवश्यक है कि हम बच्चों की घरेलू भाषाओं को सम्मान दें।''* हमारे संविधान की धारा 350 'क' के मुताबिक *''प्रत्येक राज्य और राज्य के भीतर प्रत्येक स्थानीय प्राधिकार भाषायी अल्पसंख्यक बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधा की व्यवस्था करने के लिए प्रयास करेगा। बच्चे प्रारंभ से ही बहुभाषिक शिक्षा प्राप्त कर सकेंगे।''*

भाषा– वैश्विक परिप्रेक्ष्य

यूनेस्को के विश्वभाषाओं के मानचित्र के नवीनतम संस्करण में बताया गया है कि ''विश्व की 6000 भाषाओं में से लगभग 2500 भाषाएँ या तो लुप्तप्राय: स्थिति में हैं या खतरे में हैं। इसमें से 538 तो बहुत अधिक खतरे में हैं, 502 बुरी तरह से खतरे में हैं, 632 निश्चित तौर पर खतरे में हैं और 607 असुरक्षित हैं। उसी में यह भी बताया गया है कि भारतीय भाषायी परिवेश की कुल 196 भाषाएँ जो यूनेस्को के नक्शे में शामिल हैं, उसमें से 84 असुरक्षित हैं, 62 निश्चित तौर पर खतरे में हैं, 6 बुरी तरह से खतरे में हैं, 35 अत्यंत ही खतरे में हैं और 9 तो विलुप्तु ही हैं। (1950 से ही)।'' (एन एप्राईज़ल ऑफ़ द लिंग्विस्टिक्स राइट्स ऑफ़ माइनॉरिटीज़ इन इंडिया-2013, थॉमस वेनेडिक्टर)। इसी तरह हम देखें तो भारत में ''आठवीं सूची में सूचीबद्ध 22 भाषाएँ और 100 के आसपास असूचीबद्ध भाषाएँ हैं। भारत की पूरी आबादी के 96.56% का कोई न कोई सूचीबद्ध भाषा ही उसकी मातृभाषा है जबकि 3.44% आबादी के लिए असूचीबद्ध भाषाएँ ही मातृभाषाएँ हैं। इसी तरह लगभग 234 मातृभाषाएँ चिह्नित हुई हैं जिसको राष्ट्रीय स्तर पर बोलनेवालों की संख्या लगभग 10,000 है। इस तरह 93 मातृभाषाएँ सूचीबद्ध भाषाओं में और 41 मातृभाषाएँ असूचीबद्ध भाषाओं में सूचीबद्ध हैं। कुछ वैसी भी हैं जो मातृभाषाएँ हैं, जिनको 10,000 से भी कम बोलने वाले हैं। (ए. के. मिश्रा, ट्राईबल लैंग्वेज एंड ट्राइबल लैंग्वेज एजुकेशन एट एलिमेंट्री लेबल इन इंडिया) भारतीय भाषाओं का शिक्षण के आधार-पत्र में अल्प, अल्पसंख्यक और आदिवासी भाषाओं पर विचार करते हुए कहा गया है कि *''अल्प, अल्पसंख्यक और आदिवासी भाषाओं को बोलने वाले प्रारूप अपनी भाषा से वंचित कर दिए जाने के शिकार होते हैं। जबकि हमें यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि अंग्रेज़ी सहित 39 देश की प्रमुख भाषाएँ इनके साथ रहकर ही फल-फूल सकती हैं, न कि इनकी कीमत पर। यह धारणा कि एक भाषा का विकास दूसरी भाषा के विकास में भी सहायक होता है, इससे हम उम्मीद कर सकते हैं कि भाषिक विविधता वाले आदिवासी इलाकों के मामले में कुछ भाषाओं का विकास शेष भाषाओं को बल प्रदान कर सकता है, साथ ही इनको बोलने वालों को सचेतन रूप से इस ओर रुख करने के लिए प्रेरित भी।''*

भाषा का संवैधानिक परिप्रेक्ष्य

भारत का संविधान भारत की सभी अल्प, अल्पसंख्यक और आदिवासी भाषाओं की सुरक्षा का दावा करता है, क्योंकि वह बहुभाषाओं के प्रयोग को बढ़ावा देता है। भारतीय संविधान की धारा 29 में कहा गया है कि *''कोई भी भारत का नागरिक जो भारत के भीतर या भारत के किसी भी क्षेत्र में रहता है और अपनी अलग भाषा-लिपि और संस्कृति रखता है, उसे उसको व्यवहारित और सुरक्षित करने का अधिकार होगा।''*

धारा 30 तो अल्प संख्यकों को इन भाषाओं की शिक्षा के द्वारा इसके विकास और प्रयास का अधिकार व सुरक्षा देती है। इसमें कहा गया है कि *''सभी अल्पसंख्यकों को चाहे वह धर्म पर आधारित हों या भाषा पर, उसे अपनी पसंद की शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना और संचालन का अधिकार होगा।''*

धारा 350 'क' के अनुसार *''प्रत्येक राज्य और राज्य के भीतर प्रत्येक स्थानीय प्राधिकार भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के बालकों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाओं की व्यवस्था करने का प्रयास करेगा।''*

धारा 345 किसी भी राज्य को स्वतंत्रता देती है कि वह अपने कानून द्वारा अपने राज्य के भीतर हिंदी या किसी अन्य भाषा को कार्यालयी भाषा का दर्जा दे। यही नहीं धारा 120 तो भारतीय संसद में सांसदों को अपनी मातृभाषा में व्यवहार करने की छूट देती है।

इन भारतीय संवैधानिक प्रावधानों के बावजूद भी भारत में भाषायी परिवेश की स्थिति अत्यंत ही दु:खदायी है, क्योंकि कुछ भाषाएँ ही शिक्षा, व्यवसाय, कार्यालय और अन्य क्षेत्रों में प्रचलन में होकर अपना वर्चस्व बनाए हुए हैं और कुछ तो स्थानीय प्रचलन तक ही सीमित होकर अपने अस्तित्व को खोने के डर से बीच में ही दम तोड़ रही हैं। भारतीय बहुभाषिक परिवेश में बहुभाषाओं का प्रचलन उचित है मगर उसमें कुछ भाषाएँ ही बहुत कुछ करें और कुछ बिलकुल ही कम और नगण्य भूमिका प्रदान करें तो यह अच्छी स्थिति नहीं कही जा सकती है। हम यह नहीं कहते कि भाषायी प्रचलन में शत–प्रतिशत समानता और न्याय वाली व्यवस्था ही कायम हो जाय। मगर कहीं किसी स्तर पर भाषायी अन्याय न हो इसकी तो अवश्य कोशिश की जानी चाहिए। भारतीय भाषाविद् डी.पी. पटनायक का भी कहना है कि *''बहुभाषिक संदर्भ में भाषाओं का व्यवहार असमानता भरे समाजों के निर्माण के लिए एक प्रमुख कारक हो सकता है। जब तक यह असमानता रहेगी। शिक्षा कभी भी विवादों से मुक्त नहीं होगी।''* इसलिए उन्होंने यह भी कहा कि *''बहुभाषिकता मात्र अन्य को सम्मान देने की नींव पर ही सफ़ल हो सकती है।'' (पटनायक 1990, लैंग्वेज एंड सोशल इश्यू*

भाषा से जुड़े सरोकार

इसमें कोई दो मत नहीं कि आदिवासी भाषाएँ, अल्पसंख्यक और लघु भाषाओं की स्थिति भारत में ठीक नहीं है क्योंकि उनमें से अधिकांश को मातृभाषाओं के रूप में शिक्षा के माध्यम और कार्यालयी कामकाज के लिए राज्य की मान्यताप्राप्त भाषाओं में स्थान नहीं दिया गया है। इसको न तो राज्यों के द्वारा समुचित दर्जा मिला है और ना ही शिक्षा में ही माध्यम के

रूप में इसे प्रयोग किया जा रहा है। अधिकतर विद्वान और भाषाविदों की मान्यता है कि इस स्थिति में अल्पसंख्यक और आदिवासी भाषाएँ 'भाषायी विनाश' का शिकार हो रही हैं और उनके अस्तित्व को ही खतरा होने से वे अपने आसपास की दबंग भाषाओं की ओर रुख करने को मजबूर हैं। ''बहुभाषिक देशों में कई वजहों से भाषा आसानी से राजनीति का मुद्दा बन जाती है। पहला, भाषा रख-रखाव या भाषिक उन्नति के परिणाम से भाषायी खतरा, भाषा की योजना और भाषायी चयन के द्वारा सांस्कृतिक, सामूहिक और वैयक्तिक पहचान का संकट उत्पन्न हो जाता है। इससे भाषा का राजनीतिकरण होता है। दूसरा, पद-प्रतिष्ठा और पैसों की प्राप्ति के दृष्टिकोण से भी समाज में भाषाओं का प्रभावशाली होने की प्रक्रिया भी भाषा को राजनीतिकरण की ओर को धकेलती है। तीसरा, राजनीतिक ताकत के लिए भी भाषा को हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। साम्राज्यवादियों के द्वारा शासितों पर जबरन भाषाओं का थोपना और राष्ट्रवादियों द्वारा इसका विरोध किये जाने के उदाहरण को देखा जा सकता है।

चौथा, भाषा धार्मिक कर्मकांड का हथियार के रूप में भी इस्तेमाल होने से राजनीतिक होती है। इस्लाम की भाषा अरबी, सिक्खों की गुरुमुखी लिपि में पंजाबी, ब्रह्मसमाज के लिए बंगाली और आर्य समाजी हिंदुओं के लिए हिंदी। ऐसी स्थिति में भाषा मजबूर है कि वह राजनीतिक हो।'' ''डी. पी. पटनायक, लैंग्वेज एंड पॉलिटिक्स)

भारतीय भाषिक परिवेश में भी भाषाओं के राजनीतिक होने का उदाहरण मिलता है। इसलिए यूनेस्को का भी मानना है कि *''ऐसी स्थिति जहाँ माता-पिता निरक्षर हों। यदि स्कूल में पढ़ाने का माध्यम वह भाषा हो जो घर में न बोली जाय तो गरीबी ग्रसित शिक्षण के परिवेश में समस्याएँ और भी बढ़नेवाली हो जाती हैं और इससे लगातार 'ड्रॉप आउट' बढ़ने की स्थिति बलवती होती है।''* (एजुकेशन फ़ॉर ऑल, पॉलिसी लोकेशन फ्रॉम हाई अचीविंग कंट्रीज़ यूनिसेफ़ स्टाफ़ वर्किंग पेपर्स, न्यूयॉर्क, यूनिसेफ़)

इस स्थिति में ज़ाहिर है कि शिक्षा भी संतुलित और सुव्यवस्थित स्थिति में नहीं हो सकती। यही वजह है कि भारत में सभी शैक्षणिक स्तरों का परिवेश भी सुखद नहीं है। भारत में भाषायी व्यवहार के क्षेत्र में वर्चस्ववादी वातावरण का माहौल है, जिससे बहुभाषिकता के सही माहौल को कायम करने में परेशानी का सामना करना पड़ रहा है। भारत में अल्प और अल्पसंख्यक भाषाओं के बारे में भी कई अवधारणाएँ हैं। कुछ विद्वान संख्या के आधार पर तो कुछ प्रचार और प्रसार की व्यापकता के आधार पर अल्प और अल्पसंख्यक भाषाओं का निर्धारण करते हैं। बहुमत के आधार पर अधिकांशतः आदिवासी भाषाएँ ही अल्प और अल्पसंख्यक भाषाओं की श्रेणी में संबद्ध की जा सकती है। इसमें अधिकांशतः खतरे में है। यह सच्चाई हमारे राजनीतिज्ञों, शिक्षाविदों और विद्वतजनों को पता है। जब सभी भाषाओं में ज्ञान के कारक होने की बात सभी स्वीकारते हैं तो इन भाषाओं के खतरे में होने से ज्ञान के किसी अवयव के खतरे में होने की संभावनाओं से भी इंकार नहीं किया जा सकता। इस तरह भाषायी खतरे से हमारे ज्ञान के खतरे के ज़िम्मेवार कारकों पर भी चिंता की जाती रही है, जिसके लिए भाषा नीतियों, आधुनिकता, भाषाप्रयोक्ता वर्ग की

मानसिकता और भाषा और अस्तित्व की पहचान आदि की ओर इशारा भर कर दिया जाता है। इसी क्रम में ऊपर की भाषा नीतियों के सभी सूत्रों और संकल्पों को भी देखा जा सकता है।

'*राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005* के अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति–सामाजिक संदर्भ और वर्तमान शैक्षणिक परिस्थिति' के आधारपत्र में भाषा के संदर्भ में कहा गया है कि–

(क) स्कूली शिक्षा के आरंभिक वर्षो में मातृभाषा ही संप्रेषण का माध्यम होनी चाहिए। यह बच्चों के लिए स्कूल में उचित माहौल बनाने और सीखने के लिए अत्यंत अनिवार्य है। इसके पीछे शिक्षा शास्त्रीय धारणा यह है कि जिसका ज्ञान है, उससे जिसका ज्ञान नहीं की ओर की यात्रा सीखने को आसान करती है। भाषा वह महत्वपूर्ण संसाधन है जो बच्चा अपने साथ लाता है और जो विचार संप्रेषण व समझने को संभव करता है।

(ख) बच्चों के आत्म-विश्वास व आत्म-सम्मान को बढ़ावा देने के लिए भी मातृभाषा का प्रयोग कक्षा में ज़रूरी है।

(ग) क्षेत्रीय भाषा की तरफ़ की यात्रा मातृभाषा से ही हो सकती है।

(घ) जहाँ भी किसी गाँव में एक से ज़्यादा आदिवासी भाषाएँ बोली जाती हों वहाँ सलाह-मशवरा करके ग्रामीणों से या तो स्थानीय संपर्क भाषा को या बहुसंख्ययकों की भाषा का उपयोग होना चाहिए।

(ड़) शिक्षकों के प्रशिक्षण के दौरान उस स्थानीय बोली में परीक्षा पास करना अनिवार्य कर देना चाहिए, जहाँ उसकी बहाली होने वाली हो। पहले सिविल सर्विस पास करने वालों को आदिवासी इलाके में पोस्टिंग से पहले कम से कम एक आदिवासी भाषा में परीक्षा पास करना अनिवार्य था।

इसी तरह 'भारतीय भाषाओं का शिक्षण' के आधारपत्र में भी अल्प, अल्पसंख्यक और आदिवासी भाषाओं के तहत कुछ संकल्पनाएँ देखी जा सकती हैं, जहाँ कहा गया है कि ''यह प्रलेख इसलिए उम्मीद करता है कि ऐसा समय आएगा, जब महज़ बोली जाने वाली भाषाएँ (अलिखित) स्कूलों में जगह पाएँगी और अपना अलग वर्ण-विन्यास, व्याकरण और शब्दकोश विकसित करेंगी। भले ही इनके मानक रूप अनुपस्थित हों, वे साहित्यिक उद्यम के लिए उपलब्ध औज़ार बन सकेंगी जो स्वतंत्र अभिव्यक्ति को सभी आयामों में विकसित होने का अवसर देती हैं और प्रत्येक भाषा में ज्ञान के आधार को मजबूत करती हैं।

यह उद्यम आगे बढ़कर सभी स्तरों की शिक्षा और जनसंचार में इन भाषाओं को नयी तरह की संप्रेषणकारी भूमिकाएँ व प्रकार्य सौंपकर इन भाषाओं की स्थिति को ऊँचा उठाने के लिए उन्मुख होना चाहिए। बहुत सारी भाषाएँ खतरे में हैं। बहुभाषिकतावाद को बनाए रखने के हमारे दावों के बावजूद कुछ भाषाएँ वास्तव में भारतीय भाषिक मंच से गायब हो गईं। एक भाषा को खोने का अर्थ है- इसके साथ संबद्ध पूरी की पूरी साहित्यिक व सांस्कृतिक परंपरा का नष्ट होना।''

कहने के लिए संवैधानिक और शैक्षणिक दस्तावेज़ों और दावों की कमी नहीं है और शोध तथा अनुसंधान के माध्यमों से मातृभाषा प्रयोग के

महत्त्व और आवश्यकता समेत अल्प, अल्पसंख्यक और आदिवासी भाषाओं की समृद्धि और विकास के स्रोत व संभावनाओं व सीमाओ पर भी हज़ार तथ्य, कथ्य और संभावनाएँ मिल जाएँगी। भारतीय और दुनिया के भाषाविदों व शिक्षाविदों के महत्वपूर्ण शोध सत्यों और स्थापनाओं से भी कई हज़ार आँकड़े प्रस्तुत किए जा सकते हैं। मगर उन संकल्पों को व्यवहार और मूर्त रूप में क्रियान्वित करने में कितनी बाधाएँ हैं, ये कम से कम प्रबुद्ध शिक्षितजनों से वंचित नहीं है क्योंकि वे भलीभाँति जानते हैं कि त्रिभाषा सूत्र भारत में हूबहू सफ़ल नहीं हैं।

एन.सी.ई.आर.टी. के भाषा शिक्षा विभाग द्वारा भी इस पर अभी नवीन शोध किया गया है जिसमें इसके सही क्रियान्वयन पर प्रश्न चिह्न की बात को स्वीकारा गया है। 2006 के दौरान ही परिषद् द्वारा प्रोफ़ेसर अवधेश कुमार मिश्रा द्वारा 'ट्राईबल लैंग्वेज़ एंड ट्राईबल लैंग्वेज एजुकेशन एट एलीमेंट्री लेबल इन इंडिया' विषय पर अध्ययन किया गया जो अब पुस्तक रूप में भी उपलब्ध है। इसमें भी कहा गया है कि ''122 भाषाओं (भारत का जनसंख्या आयोग द्वारा 2001 में उल्लेखित) और 234 मातृभाषाओं में मात्र 40 (अंग्रेज़ी समेत) भाषाएँ ही प्राथमिक स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में व्यवहृत की जाती है।

सिर्फ 23 आदिवासी भाषाएँ शिक्षा के माध्यम के रूप में इस्तेमाल की जाती हैं। अभी तक प्रयोग में आनेवाली आदिवासी भाषा जो मातृभाषा के रूप में भी प्रयोग में है, वह है 'बोडो'। हालाँकि झारखण्ड और पश्चिम बंगाल में राज्य द्वारा संथाली को शिक्षा का माध्यम के रूप में व्यवहार करने के लिए चिह्नित किया गया है। सरकारी निर्णय को अभी भी लागू किया जाना बाकी है। यही सच्चाई चार असूचीबद्ध आदिवासी भाषाओं की है जिसमें हो, खड़िया, कुड़ूक और मुंडारी भाषा है जिसका झारखण्ड राज्य में अभी I से III वर्गों के बीच शिक्षा का माध्यम के रूप में व्यवहार किया जाना है। जिसका परिणाम है कि अधिकांशतः आदिवासी बच्चे अपरिचित भाषाओं को माध्यम के रूप में पढ़ने के लिए मज़बूर हैं। बहुत ही अच्छा उदाहरण यह है कि सहस्त्रों भीली बच्चे गुजरात, महाराष्ट्र, राजस्थान और मध्य प्रदेश में हिंदी, गुजराती और मराठी को माध्यम के रूप में पढ़ने को विवश हैं।

हो, खड़िया, कुड़ूक, मुंडारी और संथाली बोलने वाले बच्चे झारखण्ड में हिंदी को माध्यम के रूप में पढ़ने को विवश हैं। आदि, निशिं, अपातानी, मिशमी, मोंपा, सिंफ, नॉकटे, वाँचू आदि बोलने वाले बच्चे अरुणाचल प्रदेश में अंग्रेज़ी को माध्यम के रूप में पढ़ते हैं। दिवाशा, कारबी, मिशिंग, देवटी, सादरी आदि बोलने वाले बच्चे असम में असमिया को माध्यम के रूप में पढ़ते हैं। पश्चिम बंगाल में संथाली बोलने वाले बच्चे बांग्ला को माध्यम के रूप में पढ़ते हैं।'' (ट्राईबल लैंग्वेज एंड ट्राईबल लैंग्वेज एजुकेशन एट एलीमेंट्री लेवल इन इंडिया, डॉ. अवधेश कुमार मिश्रा पृ. 101)

मिश्रा जी के अध्ययन में ही पाया गया है कि आदिवासी भाषाओं को विशेष तौर पर पढ़ाने के लिए कुछ राज्यों को छोड़कर अधिकांश जगहों में शिक्षकों की नियुक्ति नहीं की गई। शिक्षकों को आदिवासी भाषा विशेष को पढ़ाने के लिए विशेष प्रशिक्षण नहीं दिया गया। शिक्षकों को किसी भी विषय को पढ़ाने के लिए बी.एड. की

डिग्री दी जाती है मगर उनको किसी भी स्तर पर आदिवासी भाषाओं को पढ़ाने का विशेष प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है। उनके लिए विशेष स्तर की पाठ्यपुस्तकों को प्रदान करने का भी कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया। कुछ धार्मिक और सामुदायिक संगठनों द्वारा स्वतंत्र रूप से कुछ प्राइमर बनाने का भी उदाहरण मिलता है, जिसमें या तो अंग्रेज़ी या हिंदी की विषय-वस्तुओं की नकल होती है और राष्ट्रीय पाठ्यचर्या और पाठ्यक्रमों के औचित्य का कोई सवाल ही नहीं होता। एन.सी.ई.आर.टी./सी.आई.टी. और डाईट जैसी संस्थाओं को उनकी क्षेत्रीय विविधताओं को बारीकी से देखकर प्रशिक्षण के लिए निर्णय लेने की ज़रूरत है। शिक्षा का माध्यम के लिए भाषाओं के चयन में समुदायों के निर्णयों और सुझावों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

अपरिचित भाषाओं के साथ शिक्षा को माध्यम के रूप में पढ़ाने की प्रक्रिया को छोड़ा जाना चाहिए। इसी के साथ उस अध्याय में यह भी पाया गया है कि त्रिभाषा सूत्र वहाँ बिलकुल ही असफ़ल हो जाता है जहाँ आदिवासी भाषा मातृभाषा हो और उसकी लिपि न हो। इसलिए उन्होंने शिक्षकों के लिए भाषिक विकास और पाठ्यचर्या/प्रशिक्षण की आवश्यकता पर बल देने की सिफ़ारिश भी की है।

इस तरह हम पाते हैं कि आज़ादी के बाद संवैधानिक सुरक्षा और संकल्पों को प्रदान करने के बाद विभिन्न सरकारों और संस्थाओं के माध्यम से यह कहा जा रहा है कि भारत एक बहुभाषी देश है। मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया जाना चाहिए। अल्पसंख्यक, लघु और आदिवासी भाषाओं की समृद्धि और विकास का प्रयास किया जाना चाहिए। आर्थिक सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक दृष्टियों से इन अल्प, अल्पसंख्यकों और आदिवासियों की समस्याएँ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। इनसे संवाद संप्रेषण तथा वैचारिक आदान-प्रदान के लिए इनकी भाषाओं का अध्ययन और इनकी मातृबोलियों और मातृभाषाओं के संदर्भ में माध्यम भाषा बनाने में आने वाली समस्याओं पर विशेष कार्य किए जाने की बहुत आवश्यकता है। इसी संदर्भ में इस दिशा में आज ज़्यादा से ज़्यादा कार्य किए जाने की महत्वपूर्ण आवश्यकता है। 26 जुलाई 2013 को *राँची एक्सप्रेस* में एक खबर छपी थी कि झारखण्ड की छः आदिवासी भाषाएँ विलुप्ति के कगार पर हैं। इसी से मालूम हुआ कि झारखण्ड सरकार ने नौ आदिवासी एवं क्षेत्रीय भाषाओं को द्वितीय राजभाषा का दर्जा दिया है।

राज्य और केंद्र के ऐसे भाषागत निर्णयों का स्वागत है। मगर केंद्र और राज्यों के साथ मिलकर पूरे देश की भाषाओं की स्थिति, गति और नियति पर ठोस निर्णय के लिए व्यापक और ठोस भाषानीति बनाकर उस पर कार्य किए जाने की आज अहम आवश्यकता है। खासकर लघु, अल्पसंख्यक और आदिवासी भाषाओं के विकास के लिए विशेष नीति और उसके क्रियान्वयन आदि के लिए अगर कोई स्वतंत्र भाषा अकादमी की स्थापना करके सुचारू और व्यवस्थित रूप से कार्य किया जाय तो इससे ज़्यादा से ज़्यादा लाभ हो सकता है। इससे हाशिए पर खड़ी भाषाओं और उसके प्रयोक्ताओं को न केवल सम्मान मिलेगा बल्कि उसकी सही पहचान से भारतीय संस्कृति को फायदा भी होगा। यूनेस्को की महानिदेशक इरीना बोकोबा के शब्दों में कहें तो ''*मातृभाषाएँ जिनमें कोई भी अपना पहला शब्द बोलता है,*

वही उनके इतिहास एवं संस्कृति की मूल बुनियाद होती है। यह भी सिद्ध हो चुका है कि स्कूल के शुरूआती दिनों में वही बच्चे बेहतर ढंग से सीख पाते हैं, जिन्हें उनकी मातृभाषाओं में पढ़ाया जाता है। भाषाओं का सम्मान करना ही समाज और उनके सदस्यों के साथ बिना भेदभाव किए शांतिपूर्ण सहअस्तित्व को सुनिश्चित करने की प्रमुख कुंजी है।'' (राँची एक्सप्रेस, 26 जुलाई 2013)